International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 17-04-2021, Accepted: 06-05-2021, Published: 24-05-2021
Volume 7, Issue 3, 2021, Page No. 33-36

समकालीन कविता में लोक की अभिव्यक्ति

अरविंद कुमार यादव
शोधार्थी, पीएचडी, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय, भारत

सारांश
लोक का अपना साहित्य होता है जिसमें उनका उत्सव, लोक-रंग, रागतत्व आदि की अभिव्यक्ति होती है। लोक का साहित्य किसी एक व्यक्ति द्वारा रचित नहीं होता है। यह लोक द्वारा रचित और संरक्षित होकर लोक की संपत्ति हो जाती है। प्रत्येक लोक साहित्य की अपनी भाषा होती है जिसके माध्यम से वह स्वयं प्रकट करती है। समय परिवर्तन के साथ-साथ लोक साहित्य में भी परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन संबंधित लोक द्वारा ही होता है। इस प्रक्रिया में लोक साहित्य की रचना, उसमें परिवर्तन और उसका संरक्षण लोक द्वारा होता रहता है। यह तो उनका अपना साहित्य हुआ जो उनकी लोक भाषा में अभिव्यक्त होता है। लोक से इतर जो शिष्ट लोगों की भाषा होती है उसमें भी लोक के तत्व प्रचुर मात्रा में होते हैं। हिंदी की समकालीन कविता इस मायने में धनी है कि इसमें लोक का रंग ज्यादा चटख है। अस्सी का दशक बीतते-बीतते हिंदी की कविता में लोक का रंग चोखा होता गया। इसके पीछे बाजार की एक बड़ी भूमिका थी। इस बाजारवादी युग से पूर्व भी हिंदी कविता लोक के रंग से रंगी रही है। केदारनाथ सिंह, नागार्जुन सरीखे समकालीन कविता के वरिष्ठ कवि अपनी कविताओं में अपना लोक भी लेकर आते हैं।

मूलशब्द: लोक, लोक-साहित्य, समकालीन कविता, काव्यान्दोलन, मोहभंग, पूंजीवाद, मानव-मूल्य, भूमंडलीकरण, बाजार

प्रस्तावना
हिंदी कविता का आठवां दशक विभिन्न काव्यांदोलनों का साक्षी रहा है। ये अल्पजीवी काव्यांदोलन सार्थक विजन के अभाव में हिंदी कविता पर अपना विशेष प्रभाव नहीं छोड़ सके। कुकुरमुत्ते की तरह ये सभी आंदोलन मौसमी साबित हुए। इन अल्पजीवी काव्यांदोलनों के पश्चात् हिंदी कविता में एक दीर्घजीवी और प्रभावी आंदोलन का आविर्भाव हुआ जिसे समकालीन कविता के नाम से अभिहित किया गया। समकालीन कविता की शुरुआत कब से मानी जाए , इस बात पर सभी विद्वान् मतैक्य नहीं हैं। भरत प्रसाद त्रिपाठी इसको अकविता के बाद (1964) मानते हैं तो वहीं कुछ विद्वान् 1980 से मानने के पक्षधर हैं। इन सभी मान्यताओं के पीछे सशक्त तर्क भी हैं। लेकिन इस लेख का मंतव्य - काल निर्धारण में न उलझकर - लोक की एक छवि प्रस्तुत करनी है जो हिंदी कविता के माध्यम से व्यक्त हुई है। सन अस्सी के पूर्व की कविता में विद्रोह, निषेध एवं मोहभंग की स्थिति की अभिव्यक्ति थी। दरअसल वह युग ही ऐसा था जिसमें मोहभंग के कारण धरना, प्रदर्शन और जुलूस आदि की अधिकता थी। नक्सलवाद जन्म लेकर परिपक्व और विस्तृत हो रहा था। ऐसी सामाजिक व राजनीतिक स्थिति में कविता का विद्रोही होना स्वाभाविक था। कविता बल्लम, लाठी, बंदूक, तोप, बख्तरबंद आदि का जखीरा बन चुकी थी और इसी के सहारे होना था युद्ध, जिसकी परिणति क्रांति के रूप में होनी थी। लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। नब्बे का दशक आते-आते बाजार की गिद्ध दृष्टि भारतीय उपभोक्ताओं पर पड़ चुकी थी। इस गिद्ध दृष्टि ने जब अपने पाँव पसारने शुरू किए तो भारतीय समाज में रिश्तों की डोर ढीली पड़ने लगी, साथ ही साथ पारिवारिक और सामाजिक दायित्व में भी परिवर्तन आने शुरू हो गए। इन परिवर्तनों ने हिंदी कविता की दिशा और गति भी बदली। कविता में यह परिवर्तन नब्बे के दशक में स्पष्ट रूप से दीखने लगा था। इसलिए इसी बिंदु (1980ई.) को समकालीन कविता का संदर्भ बिंदु मानना उचित होगा। अब कविता के समक्ष दूसरे तरह की जिम्मेदारी आ गयी थी। पूँजी के नीतिविहीन विस्तारवादी रवैये और बाजारवादी मूल्यों से टकराते हुए मानव-मूल्यों की रक्षा करना कविता की प्राथमिकता बन गयी थी। समकालीन कवियों को इन मानव-मूल्यों की रक्षा के लिए लोक की मिट्टी ज्यादा उर्वर दिखी। यह उर्वर मिट्टी समकालीन कविता को अपनी खुशबू से मह-मह महकाती है।

विकिपीडिया के अनुसार "लोक सहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।"[1] दरअसल लोक की निर्मिति उस जन समुदाय या समूह से होती है जो अभी आधुनिक तकनीकि से अनभिज्ञ है। वह अभी भी अत्याधुनिक तकनीकि और सुविधाओं से इतर अपने रिश्तों में जीवन की खुशबू ढूँढ़ता है। यह लोक समुदाय जानबूझकर विकास से दूर नहीं है बल्कि एक साजिश के तहत उसे विकास की परिधि से दूर धकेल दिया गया है जहाँ तमाम चाहतों के बावजूद विकास दस्तक नहीं दे पाया है। हालाँकि इसकी कहानी कुछ और है और लंबी व जटिल भी है।

नवें और दसवें दशक की हिंदी कविता इसी लोक - जो जहालत की जिंदगी जी रहा है - में अपना आश्रय ढूंढती है या यूँ कहें कि शरण लेती है। हमारा देश ज्यों-ज्यों भूमंडलीकरण की गिरफ्त में आता गया त्यों-त्यों हिंदी कविता स्वयं को स्थानीयता के करीब लेती गयी। दरअसल बाजार आधारित समाज बनने की प्रक्रिया में सबसे ज्यादा नुकसान संवेदनाओं का हुआ। इन्हीं संवेदनाओं को पाने के लिए हिंदी कविता लोक की शरण में गयी।

लेकिन इधर के कवियों में हिंदी का लोक मुखर होकर सामने आया है। सुविधा की दृष्टि से 1990 ई. और उसके बाद की कविताओं को ही इस लेख में शामिल किया गया है। नीलेश रघुवंशी, अष्टभुजा शुक्ल, बोधिसत्व, अनुज लुगुन, एकांत श्रीवास्तव आदि कवियों की पीढ़ी अपनी लोक पहचान के साथ हिंदी कविता की चौहद्दी में प्रवेश करती है और लोक की उष्मा का एहसास हिंदी कविता के पाठकों तक पहुँचाती है।

लोक में प्रचलित एक नाट्य विधा है-रामलीला। जिसके माध्यम से आम जनमानस भक्ति के साथ-साथ मनोरंजन का भी आनंद लेता है। इसमें में काम करने वाले कलाकार दूर-दूर तक अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए जाया करते हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपनी आत्मकथा 'अपनी खबर' में रामलीला मंडली के साथ दूर-दूर तक जाकर रामलीला दिखाने का जिक्र किया है। मंडली में बाल कलाकारों की संख्या ज्यादा होती है। इन नाट्य मंडलियों में काम करने वाले कलाकारों की आर्थिक स्थिति सामान्यतः ठीक नहीं होती है। वे धन के साथ-साथ सम्मान की वंचना के भी शिकार होते हैं। ऐसी स्थिति में जब वे रामलीला का मंचन करते हैं तो अपनी और स्वजनों की स्थिति का स्मृति में उभर आना स्वभाविक है। इन्हीं नाट्य मंडलियों में काम करने वाले बाल कलाकारों का जिक्र अष्टभुजा शुक्ल ने 'युगल किशोर' नामक कविता में किया है। 'युगल किशोर' कविता में नाट्य मंडलियों में अभिनय करने वाले युगल किशोरों की मनःस्थिति का वर्णन है। यह मनःस्थिति उन्हें अपने लोक में खींच लेकर चली जाती है। दरअसल नाट्य मंडलियों में अभिनय करने वालों की आर्थिक पृष्ठभूमि निम्न स्तर की होती है। जब उन्हें भक्तगण अपने कंधों पर लेकर हर्षित होते हैं और धन की वर्षा करते हैं तब किशोर अभिनेताओं को अपनी आर्थिक तंगी बेतरह याद आने लगती है और एक किशोर कलाकार की स्मृति अपने गृह जनपद की यात्रा पर निकल पड़ती है-

"देखने लगे सपने दिन में सोते हुए
मिथिला, दरभंगा, किठूरी, खड़हुआ के
याद आने लगी नानी, माई
बाप, बहन, मोटा भाई
पुआल का बिछौना
और फटी धोती की रजाई"[3]

इस याद में उनका ओढ़ना-बिछौना, माँ, नानी और विकास की जद से दूर उनकी भौगोलिक स्थिति आदि का अंकन है। पुआल का बिछौना, फटी धोती की रजाई आदि का जिक्र आते ही लोक का बिंब उभरना स्वभाविक है। राम, लखन, सीता आदि का अभिनय करने वाले युवाओं की दुनिया रंगमंच पर जितनी खूबसूरत होती है, नेपथ्य में उतनी ही दारुण स्थिति का वे सामना करते हैं। आगे इसी कविता में अष्टभुजा शुक्ल नेपथ्य में उनकी दारुण स्थिति का जिक्र करते हैं, जो द्रष्टव्य है-

"जीवन का अधिकांश तो नेपथ्य में ही बीतता है
और नेपथ्य कितना बदरंग, फूहड़ और दारुण होता है?
पहले उतारी गई राजकुमारों की वेशभूषा
बाद में उतारा गया तापसों का चीवर
अब उतरने की बारी आयी गमछा और अधरीय
इसके बाद संभवतः उतारी जाए खाल।"[2]

दरअसल, नेपथ्य हमारे वास्तविक जीवन का सूचक है। नेपथ्य का जीवन बदरंग और दारुण होता है, जहाँ मंच की रंगीनियाँ, सुख-सुविधा, आह्लादकारी संवाद कोसों दूर होता है। खाल उतारे जाने की संभावना व्यक्त करके कवि उनकी दारुण स्थिति की गहराइयों से रूबरू करवाता है।

बाजार ने धीरे-धीरे अपना पैठ बनाना शुरू किया और वह पहले से स्थापित मूल्यों को विस्थापित करने की चेष्टा करने लगा। प्रत्येक बदलाव को सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाला कवि यह देखकर सशंकित हो उठा और उसे किसी अनिष्ट का अंदेशा होने लगा। सब कुछ बचाकर सहेज लेने की छटपटाहट उस पर हावी होने लगती है। उसे डर है कि बाजार की घुसपैठ से नदियाँ, झरना, बरगद, कनेर, सरसों के फूल, ग्राम बाला का किशोरवय अल्हड़ प्रेम, सागौन के पत्ते आदि हमारी दृष्टि से ओझल हो जाएँगे। लोक इसी प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाकर जी रहा है जिसमें बहुत कुछ खो जाने के भय से कवि आशंकित है। कुमार अंबुज अपने इसी डर को शब्दबद्ध करते हैं-

"जबकि मैं कहना चाहता था झरना, कहना चाहता था सुबह
मैं कुछ वृक्षों जैसे बरगद, कनेर, सागौन के पत्ते देखना चाहता था
जिन्हें विष्मृत कर देने का भय
कई दिनों से पैठ गया है मेरे भीतर।"[4]

कवि की यह चिंता 1990ई. से 1995ई. के बीच की है, जब भारत मुक्त अर्थव्यवस्था की नीति को अपनाकर अपने बाजार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए खोल चुका था। ये बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हमारे रिश्तों और आस-पास के वातावरण को आर्थिक आधार पर परिभाषित करने का प्रयास कर रही थीं। कवि भी अपने दायित्व को निभाते हुए कविता के माध्यम से बाजार की जद से सबकुछ बचाकर सहेज लेना चाहता था। कुमार अंबुज को यह चिंता है कि जब बाजार हमारे रिश्तों पर हावी हो जाएगा तो वे सभी चीजें विस्मृत हो जाएँगी जो अभी हमसे एक अदृश्य डोर से बंधी हैं, जिनके होने से हमारा होना है।

कुमार अंबुज की ही एक कविता है 'किसी भी दिन।' इस कविता में जानलेवा दुर्घटना की आशंका व्यक्त की गई है। ट्रक से कुचल दिये जाने के बाद सेठ एवं एस.पी आदि की मिली भगत से थाने में रपट दर्ज की जाती है कि दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति रांग साइड पर था। यह तो थी भ्रष्टाचार में दक्ष हमारी व्यवस्था की बात। लेकिन इसी व्यवस्था के बरक्स एक ऐसा भी समाज है जो लोगों के दुःख में दुखी होता है ।लोगों के दुःख में दुखी होना लोक की एक विशेषता है। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर औरतें माँ को घेर लेती हैं-

"आसपास की औरतें माँ को घेर लेंगी कहेंगी
होनी तो होकर रहती है आँसू पोंछ लो बहन
यही अवसर है धीरज की परीक्षा का।"[5]

इस कविता को पढ़ने पर यह एहसास होता है की हमारी एक पूरी पीढ़ी हमारी संवेदनाओं की मृत्यु पर हमें सांत्वना दे रही है। जहाँ पूरी व्यवस्था हत्या की साजिश में शामिल है, हत्या का उत्सव माना रही है, वहीं पर एक व्यक्ति की अकाल मृत्यु होने पर औरतों का दुखी होना और सांत्वना देना, सुकून देता है। इस कविता में एक पंक्ति है 'होनी तो होकर रहती है'। इस पंक्ति से आभास होता है कि कवि को 'होनी' के होने प्रबल संभवना दिखाई दे रही है लेकिन वह 'होनी' को निश्चित जानकार भी उसे रोकने का प्रयास करता है। कवि द्वारा रिश्तों की खुशबू और धरती को बचाए रखने का यह एक स्तुत्य प्रयास है। कुमार अंबुज की कविता मानवीय संवेदनाओं से सनी हुई है। उनकी काव्य संवेदना के संबंध में भरत प्रसाद लिखते हैं कि -"भावनात्मक आवेग अन्तःधारा बनकर उनकी पंक्तियों में बहता रहता है, इसीलिए उनकी कविताएँ शुष्क नजर नहीं आतीं। कविताओं में रिसती हुई भावना की यही नमी ही कुमार अंबुज को मार्मिक कवि बना देती है।"[6]

एकांत श्रीवास्तव नव्यतम पीढ़ी के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी कविताओं में इनका गाँव-जवांर, रिश्ते-नाते, चिरई-चिरंगुन, धान से लदी बैलगाड़ी, माँ की लोरी अपनी खनकदार आवाज के साथ आती है और कविता में उठा चला आता है इनका कस्बा छुरा। 'अन्न हैं मेरे शब्द' एकांत श्रीवास्तव का पहला कविता संग्रह है। इस संग्रह की कविताओं में सामयिक समस्याओं, घटनाओं का ताप नहीं है। ये प्रकृति, घर-परिवार, ग्राम्यजीवन के परिवेश से जुड़ी हुई संवेदनाओं को व्यक्त करती हैं, जिनमें लोकजीवन की रागमयता और उसके भीतर मानवीय जिजीविषा के विविध रूप मिलते हैं। एकांत श्रीवास्तव की कविताओं को पढ़ते हुए हम गाँव-घर और खेत-खलिहानों की यात्रा कर लेते हैं। गाँव में मनोरंजन का साधन रामलीला, आल्हा, नाच-नौटंकी आदि है। गाँव में होने वाला नाच शाम को खाना-पीना हो जाने के बाद शुरू होता है और सूरज उगने से पूर्व तक जारी रहता है। यहाँ की संस्कृति श्रम प्रधान है। दिन भर श्रम करके थके मांदे ग्रामीण सूरज ढलने तक खा-पीकर मनोरंजन हेतु आयोजित नाच-गान में दर्शक-श्रोता की हैसियत से शामिल होते हैं। नाच-गान का आयोजन अक्सर विवाह, जन्मोत्सव, मुंडन आदि शुभ अवसरों पर होता है। नाच के अवसर पर ग्रामवासियों का उत्साह देखते ही बनता है। एक कवितांश द्रष्टव्य है-

"उमंग है तन-मन में सबके
जल्दी राँध-खाकर भात-साग
दौड़ी आती है लड़कियाँ
औरतें, बच्चे और लोग इकट्ठे हैं
धारण चौरा के पास।"[7]

इस अवसर पर लोग खा-पीकर जल्दी-जल्दी नाच स्थल तक पहुँचते हैं ताकि भरपूर मनोरंजन कर सकें। नाच की यह परंपरा धीरे-धीरे अपने अवसान की ओर है। मनोरंजन के विल्कप जैसे-जैसे बढ़ते जा रहे हैं, वैसे-वैसे नाच की परंपरा भी खत्म होती जा रही है।

खेती-किसानी लोक का अहम तत्व है। फसल की बुवाई की शुरुआत बैल और किसान की मेहनत से होता है। हमारे घरों की डेहरी-धुनकी आदि में भरे अनाजों के दाने-दाने में इन दोनों- किसान व बैल- की खुशबू समाई हुई होती है। इस खुशबू का एहसास हम कितना कर पाते हैं यह जग जाहिर है। दरअसल, नालियों में बहता अनाज हमारी संवेदना कुंद होने और श्रम की संस्कृति के अपमान का परिचायक है। बैल से फसल की बुआई ही नहीं करवाई जाती है बल्कि परिवहन में भी उसका उपयोग किया जाता है। 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' से तो परिचित ही होंगे। बैल गाड़ी से नाच कंपनी की लदनी के इर्द-गिर्द यह कहानी घूमती है। घर की बहू-बेटियाँ भी बैलगाड़ी से ही अपने घर व मायके जाती थीं। सबकुछ ग्लोबल होने की होड़ में यह सब चीजें हमारे परिवेश से निर्वासित कर दी गयीं। इन्हीं निर्वासित चीजों को कविता के माध्यम से सहेज लेने की जद्दोजहद समकालीन कविता करती है।

लोक की परंपरा हमारे वर्तमान के जहरीले सामाजिक वातावरण को खत्मकर सामाजिक सौहार्द के लिए संजीवनी साबित हो सकती है। सांप्रदायिक उन्माद की जयघोष से जब दसों दिशायें दूषित हो रही हों तब नूर मियाँ और रमजान मियाँ सरीखे चरित्रों का स्मृति में कौंध उठना स्वभाविक है। रमाशंकर विद्रोही की दादी की आँख तो नूर मियाँ के अंजन से ही ठीक होती है। ठीक ही नहीं होती बल्कि वे सुई में डोरा भी डाल लेती हैं और बितौनी बनी घूमती फिरती हैं -

"बड़ी दुआएँ देती थी मेरी दादी नूर मियाँ को
और उनके सुरमें को
कहती थी कि
नूर मियाँ के सुरमे की बदौलत ही तो
बुढ़ौती में बितौनी बनी घूम रही हूँ
सुई में डोरा डाल लेती हूँ।"[8]

हिंदी कविता लोक में जाकर नूर मिया से ऊर्जा लेती है और संप्रदायिकता और पूंजीवाद नामक दो धारी तलवार से लड़ने का दमखम दिखाती है।

दरअसल लोक में विभिन्न समुदाय अन्योन्याश्रित हैं। ऐसी स्थिति में सांप्रदायिक उन्माद की गुंजाइश ही कहाँ बचती है। पूँजीवाद हमारी कविता और लोक दोनों पर हमलावर है। इस हमले में हमारा लोक जितना चोटिल होगा सांप्रदायिक उन्माद उतना ही बढ़ता जाएगा। पूँजीवाद और सांप्रदायिकता में महीन डोरी के जितना अंतर है जो कि दीखता तो नहीं है लेकिन सांप्रदायिकता को खाद-पानी देता रहता है। पूँजीवाद के हमलों से बच पाना तो मुश्किल है लेकिन इससे लड़ा तो जा ही सकता है। कम से कम लोक को कविता में सहेजकर रख लें जैसे संग्रहालय में चीजें सहेजी जाती हैं।

संदर्भ सूची

1. https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B2%E0%A5%8B%E0%A4%95_%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%AF
2. शुक्ल, अष्टभुजा, दुःस्वप्न भी आते हैं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ. 5
3. वही, पृ. 53
4. अंबुज, कुमार, क्रूरता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 43
5. वही, पृष्ठ-88
6. प्रसाद, भरत, कविता की समकालीन संस्कृति, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ-131
7. श्रीवास्तव, एकांत, अन्न हैं मेरे शब्द, आधार प्रकाशन, पंचकुला, प्रथम संस्करण 1994, पृ. 30
8. http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%A8%E0%A5%82%E0%A4%B0_%E0%A4%AE%E0%A4%BF%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%82_/_%E0%A4%B0%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%B6%E0%A4%82%E0%A4%95%E0%A4%B0_%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%A6%E0%A4%B5_%27%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%A6%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A5%8B%E0%A4%B9%E0%A5%80%27